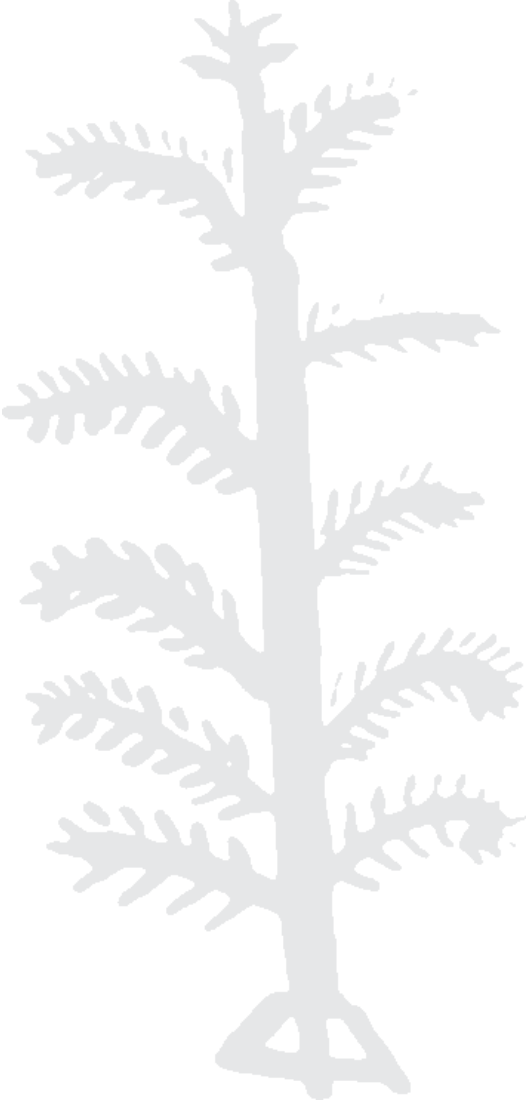


चौमासा

वर्ष-24 अंक-75
नवम्बर-07-फरवरी, 2008

सम्पादक
डॉ. कपिल तिवारी

सहायक सम्पादक
अशोक मिश्र



आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी,
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी,
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्
मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल,
बाणगंगा, भोपाल-462003
www.mpculture.in ● E-mail : mplokkala@rediffmail.com

मूल्य

एक प्रति बीस रूपये
वार्षिक पचास रूपये
आजीवन सदस्यता पन्द्रह सौ रूपये
चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

प्रचार/प्रसार

श्रीमती उर्मिला पारखे

शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी,
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्



मुद्रण

शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

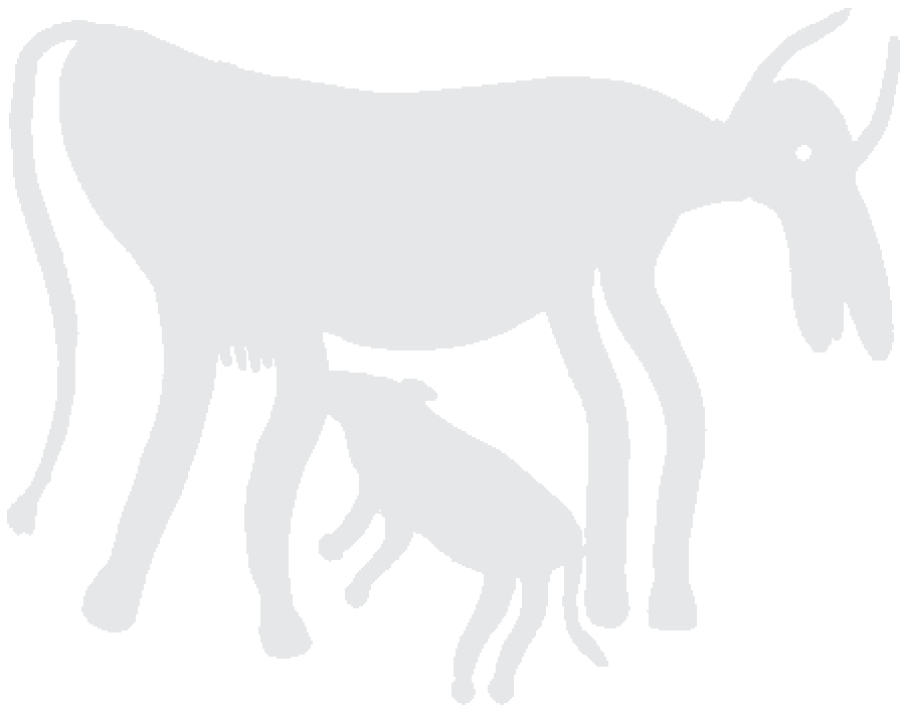
डॉ. कपिल तिवारी, निदेशक, आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, मैदा मिल, भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल, बाणगंगा, भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-डॉ. कपिल तिवारी



इस अंक में-

- भारतीय आख्यान : परम्परा, स्वरूप और प्रयोजन / आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी / 9
- लोक आख्यान की परम्परा / डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित / 14
- आख्यान की यात्रा और गाथा के कुछ सूत्र / डॉ. राजमति दिवाकर / 23
- आख्यान और भारतीय नाट्य परम्परा / राधावल्लभ त्रिपाठी / 29
- आख्यान, लोकाख्यान और इतिहास / डॉ. श्यामसुन्दर निगम / 34
- आदिम आख्यान परम्परा / वसन्त निरगुणे / 39
- लोकगाथा : स्वरूप और वैशिष्ट्य / डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त / 62
- राजा रिसालू : विभाजित व्यक्तित्व का विस्तृत गाथा चक्र / विजय वर्मा / 68
- कुमाउनी के लोकाख्यान / प्रो.देवसिंह पोखरिया / डॉ. रंजना शाही / 84
- चरवाहा संस्कृति की गाथा : कुँवर अछरिया / नन्दकिशोर तिवारी / 92
- छत्तीसगढ़ में प्रचलित गाथाएँ / निरंजन महावर / 100
- लोकाख्यानों के आलोक में विक्रमादित्य / डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा / 116
- दशपुर के लोक देवता एवं उनके आख्यान / डॉ. पूरन सहगल / 121
- मूमल-महेन्द्र / डॉ. महेन्द्र भानावत / 125
- लोक आख्यानों के विविध प्रसंग / डॉ. शान्ति जैन / 131
- बुन्देलखण्ड के लोक विश्वास / डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव / 135
- बुन्देली में प्रचलित लौकिक आख्यान / डॉ. सुरेश मालवीय / 139
- लोकाख्यान / डॉ. ओमप्रकाश चौबे / 159
- आख्यानों की ओट में गोंड इतिहास / डॉ. सुरेश मिश्र / 170
- हो और मुंडा जनजाति में आख्यान / डॉ. आदित्य प्रसाद सिन्हा / 173



अकादमी की पत्रिका 'चौमासा' का यह पचहत्तरवाँ अंक है, और इसके साथ ही इसके प्रकाशन को पच्चीस वर्ष पूरे हो रहे हैं। जनजातीय और लोक संस्कृति के सुदीर्घ और विशाल पारम्परिक क्षेत्र और इसके महत्त्व की दृष्टि से यह अधिक समय नहीं है, लेकिन फिर भी एक पत्रिका के निरन्तर प्रकाशन की दृष्टि से पच्चीस वर्ष एक विशेष अवसर जरूर है। इस अवधि में जनजातीय और लोक संस्कृति से संबंधित पाठक और लेखक समुदाय बन गया है और कला-संस्कृति के क्षेत्र में ये विषय, चर्चा में भी आ गये हैं। पिछले दशक तक हमारे साहित्य कला विमर्श से मौखिक साहित्य और पारम्परिक कलाएँ लगभग गायब थीं- शास्त्रीय कलाओं और समकालीन तथा आधुनिक साहित्य तक यह विमर्श सीमित था। उसके अपने ऐतिहासिक कारण हैं। हमारी अपनी ही परम्परा को समझने की दृष्टि, पश्चिमी दृष्टियों और आधुनिकता से आक्रान्त थीं, भारत प्रत्येक क्षेत्र में अपनी परम्परा को लेकर एक तरह की उपेक्षा और आत्मग्लानि का शिकार था। एक सीमा तक भारतीय बौद्धिक वर्ग पश्चिम के ऐतिहासिक समय, समाज और नृतत्व दृष्टियों, मनोविज्ञान के विश्लेषणों तथा राजनीति दर्शन के विभिन्न मतवादों के भीतर और उन्हीं दृष्टियों से अपना देश, लोगों का जीवन और संस्कृति तथा अपनी परम्परा को देखने का यत्न करता था। एक और ही देशकाल तथा जीवन दृष्टियों से जब अपनी परम्परा को समझने का यत्न किया जाता है, तो स्वयं अपनी परम्परा के लिए हम एक अजनबी आदमी होते हैं और परम्परा के ज्ञान और सर्जना दोनों के साथ न्याय नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में परम्परा को लेकर दो तरह के लोग और दृष्टिकोण बनते हैं- परम्परा के आलोचक और परम्परा के प्रशंसक। जब परम्परा अपने ही देश-काल और जीवन दृष्टि के भीतर नहीं देखी जाती, तो परम्परा से कोई प्रतिकृत नहीं होता और बिना इसके न आलोचना का विशेष अर्थ होता है और न ही परम्परा की प्रशंसा का, जो उसके समग्र और आत्यंतिक अर्थ को समझे बिना उसे परम पावन मानती रहती है।

सौभाग्य से पिछले एक दशक में विमर्श में उत्सुक भारतीय बौद्धिक वर्ग में परम्परा को लेकर कुछ बदलाव आ रहा है। भूमंडलीकरण की नई स्थितियों से, आधुनिकता को लेकर भारतीय बौद्धिक का रोमान और हठधर्मिता कम हुई है-निपट पश्चिमीकरण को अपनी आधुनिकता मानने वाला यह वर्ग अब जिन स्थितियों के सामने है, वे स्थितियाँ और दुनिया में इतिहास की नई सच्चाइयों के साथ अपनी पूरी शक्ति और उसकी भयावहता में सबके सामने हैं।

मूल्यों पर विश्वास और सर्जना का सम्मान करने वाले मनुष्य के बजाय पूंजी, तकनीक, बाजार और मीडिया ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में केवल सफलता को परम मूल्य और अर्थाजन करने वाले आदमी को हमारे समय के 'धन्य मनुष्यों' की तरह पेश किया है। हर

कीमत पर सफल होने वाले थोड़े से लोगों का यह झुंड नये और सफल शक्तिशाली भारत के रूप में सब जगह प्रस्तुत किया जा रहा है। बाजार और मीडिया इन्हें ही पूरी शक्ति से पूरे समय पेश कर रहे हैं। इनमें उद्योग के नव कुबेर, इन्हें प्रोत्साहित करने वाले राजनेता, फिल्म और मीडिया से जुड़े सितारे, फैशन और क्रिकेट जैसे खेलों से जुड़े थोड़े से लोग और भाँति-भाँति के बाबा शामिल हैं- यही भारत और उसकी जनता, उसके मूल्यादर्श, उसका जीवन और उनका संघर्ष है।

प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में इन्हें ही नये भारत के प्रतिनिधियों की तरह प्रस्तुत किया जा रहा है। समाज में भाषा और उसकी रचना, पुस्तकें, धरोहरें, कलाएँ और विचार खो रहे हैं, उनकी जैसे किसी को जरूरत नहीं।

इन नये ठोस संदर्भों में पश्चिमीकरण को ही अपनी आधुनिकता मानने-समझने और स्थापित करने वाला बौद्धिक-सर्जक, एक बिल्कुल नयी स्थिति के सामने है- अब जीवन मूल्य, सर्जना और विचार को कैसे बनाया जाये? सबसे बढ़कर अपने आपको कैसे बचाया जाये?

इसी वर्ग ने अब अपने देशज ज्ञान, ज्ञान प्रणालियों, विधियों और कौशलों की अचानक चिन्ता करना शुरू कर दिया है, जैसे वे पहिले कभी थी ही नहीं और उनकी उपेक्षा और नाश के लिए कोई और जबाबदार है।

अब 'विकास के नये विकल्पों' पर विमर्श हो रहा है- कभी गाँधी जी याद आ रहे हैं तो कभी प्रकृति, और भारतीय जीवन की स्थानिकता और जनपदीय स्वावलंबन। परम्परा के नये भाष्य की जरूरत महसूस की जा रही है और किसी भी रूप में उससे सम्बन्ध जोड़ने की हड़बड़ी भी है।

दो दशक पहिले तक जो आधुनिक विकास के पश्चिमी माडल और प्रणालियों के धुर समर्थक थे, वे वैश्वीकरण का विरोध करते उसे 'नव साम्राज्यवाद' की तरह विश्लेषित कर रहे हैं, क्या वे जानते हैं कि वे जिस विकास को भारतीय समाज के लिए इतना अपरिहार्य मानते थे, विकास के उस रूप ने ही वैश्वीकरण तक एक लम्बी यात्रा पूरी की है? वे आधुनिकता के जिस स्वरूप की इतने उत्कट उन्माद के साथ वकालत करते हुए भारतीय ज्ञान, सर्जना और पद्धतियों का विरोध करते, उन्हें पिछड़ी और कालातीत घोषित कर रहे थे, उससे परम्परा को लेकर उनकी समझ और संबंध का पता चलता है। अब इस विकास पर वे अविश्वास प्रकट करते विकास के विकल्पों को बेचैनी से खोज रहे हैं। क्या विकास के विकल्प अपनी परम्परा और लोगों के जीवन तथा अपने जीवन यथार्थ के बाहरन से हमें मिलेंगे? क्या वे अपने आधुनिक बोध पर पुनर्विचार करेंगे? क्या शास्त्र से लोक तक विस्तारित भारतीय परम्परा को समझने, उससे प्रतिकृत होने उन्होंने परम्परा के साथ अपना सम्बन्ध बदला है या वे अभी भी जीवन और विकास के प्रत्येक प्रश्न पर पश्चिमी दृष्टियों और रूपों की ओर ही देखते रहते हैं?

परम्परा को हम शास्त्र और शास्त्रीयता की सम्पूर्णता अथवा लोक और उसके व्यवहार में समझ सकते हैं, लेकिन किसी एक के साथ हमारे जुड़ने और अर्थों को समग्रता में जानना महत्वपूर्ण है। हमें यह भी समझना होगा कि परम्परा का प्रत्येक नवाचार और नवजीवन ही एक वास्तविक आधुनिकता है, उसे दूसरे जीवन, समाज, परम्पराओं और विचार दृष्टियों को अपने ऊपर आरोपित करने से नहीं पाया जा सकता।

स्वयं विकास के बारे में हमें यह सोचना होगा कि अपने जीवन और समाज के लिए हमारी ही आँखों को विकास का एक स्वप्न देखना होगा और अथक परिश्रम से उसे फलित भी हमीं करेंगे। ऐसा विकास ही चरितार्थ हो सकता है। प्रत्येक समाज के पास अपनी आधुनिक दृष्टि और विकास के स्वप्न होते हैं, उन्हीं के भीतर हमें अपना स्वभाव, प्रवृत्ति, संस्कार, शक्ति और अभीप्सा रचना होती है, यदि ऐसा संभव नहीं हो पाता तो वह विकास पूरे जीवन को असंतुलित और विद्रूप कर देता है, और उसमें विन्यस्त आधुनिकता हमें परम्परा का एक विचित्र द्वेषी आलोचक बनाकर रख देती है। अन्ततः अपने प्रयोजन और अभिप्रायों में वह विकास और उससे जुड़ी आधुनिकता निष्फल हो जाती है।

'लोक' और लोक समाजों की सांस्कृतिक परम्परा पर पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में काम करते हमें लोक के कुछ अर्थ और

संस्कृति के कुछ मूल्यों से प्रतिकृत होने का अवसर मिला है- इस पत्रिका के पचहत्तर अंकों में, लोक सांस्कृतिक और जनजातीय परम्पराओं, कलारूपों, वाचिक साहित्य, अनुष्ठानों और विश्वासों, लोक देवताओं और चरित नायकों, चित्र और शिल्प शैलियों, नृत्य और संगीत तथा नाट्य परम्पराओं को जगह मिली है, जिनके बारे में प्रकाशित करते स्वयं हमारा शिक्षण और संस्कार हुआ, एक अपूर्व संसार को देखने का अवसर मिला।

यह अंक एक विशेषांक के रूप में 'लोक के आख्यान' परम्परा पर एकाग्र है। पिछले कुछ वर्षों में 'वृक्ष और लोक संस्कृति', 'जल और लोकजीवन' तथा 'काल की भारतीय दृष्टि और लोक संज्ञान तथा सर्जना' पर केन्द्रित विशेषांक प्रकाशित हुए हैं- व्यापक और समग्र रूप से वह अन्ततः परम्परा और परम्परा की दृष्टि को समझने का ही यत्न है।

लोक की पहेलियों-मुहावरों, गीतों और कथाओं के बाद हम इस अंक में 'गाथाओं' तक आ पहुँचे हैं। यह कथा से अलग लेकिन साथ में सहयात्रा करता एक कथा संसार है, जिसमें चरित नायक और लोकदेवता हैं, वीर नायक अथवा अमर प्रेमी या किसी महनीय मूल्य के लिए उत्सर्ग करते ऐतिहासिक या काल्पनिक गाथा चरित्र। इसी अवसर पर लगभग आठ सौ पृष्ठों की एक पुस्तक 'लोक आख्यान' का प्रकाशन किया जा रहा है, जो मध्यप्रदेश के चारों जनपदों का गहरा संस्कृति दर्शन है। इस विशेषांक में कुछ गाथाओं के साथ आख्यान की शास्त्रीय और लिखित परम्परा तथा लोक और उसकी मौखिक आख्यान परम्परा पर केन्द्रित कुछ लेख और विमर्शात्मक टिप्पणियाँ प्रकाशित हैं।

हमें आशा है कि इससे हम परम्परा में कथा और गाथा का अन्तर समझ सकेंगे तथा आख्यान के स्वरूप पर फिर से विचार करेंगे।

-कपिल तिवारी

